

## १८. मोक्षसंन्यासयोग

अर्जुन बोले— हे महाबाहो, हे अन्तर्यामिन, हे वासुदेव, मैं संन्यास और त्याग को तथा इनके भेद को अच्छी तरह जानना चाहता हूँ. (१८.०१)

श्रीभगवान बोले— सकाम कर्मों के परित्याग को ज्ञानीजन 'संन्यास' कहते हैं; तथा विवेकी मनुष्य सभी कर्मों के फलों (में आसक्ति) के त्याग को 'त्याग' कहते हैं. (५.०१, ५.०५, ६.०१ भी देखें) (१८.०२)

कुछ महात्मा लोग कहते हैं कि सभी कर्म दोषयुक्त होने के कारण त्याज्य हैं और दूसरे लोगों का कहना है कि यज्ञ, दान और तप त्याज्य नहीं हैं. (१८.०३)

हे अर्जुन, त्याग के विषय में अब तुम मेरा निर्णय सुनो. हे पुरुषश्रेष्ठ, त्याग भी तीन प्रकार का कहा गया है. (१८.०४)

यज्ञ, दान और तप का त्याग नहीं करना चाहिये, उन्हें अवश्य करना चाहिये, क्योंकि यज्ञ, दान और तप ये साधकों के अन्तःकरण को पवित्र करते हैं. (१८.०५)

हे पार्थ, इन कर्मों को भी फल की आसक्ति त्यागकर ही करना चाहिये, ऐसा मेरा दृढ़ उत्तम मत है. (१८.०६)

हे अर्जुन, कर्तव्यकर्म का त्याग उचित नहीं है. भ्रमवश उसका त्याग करना तामसिक त्याग कहा गया है. (१८.०७)

सभी कर्म दुःखरूप है — ऐसा समझकर यदि कोई शारीरिक कष्ट अथवा कठिनाई के भय से अपने कर्तव्यकर्म को त्याग दे, तो वह ऐसा राजसिक त्याग करके त्याग के फल को प्राप्त नहीं करता है. (१८.०८)

"कर्म करना कर्तव्य है" ऐसा समझकर, हे अर्जुन, जो नियत कर्म — फल की आसक्ति त्यागकर— किया जाता है, वही सात्त्विक त्याग माना गया है. (१८.०९)

जो मनुष्य अशुभ कर्म से द्वेष नहीं करता तथा शुभ कर्म में आसक्ति नहीं होता, वही सतो गुण से सम्पन्न, संशयरहित, बुद्धिमान और त्यागी समझा जाता है. (१८.१०)

मनुष्य के लिये सम्पूर्णरूप से सभी कर्मों का त्याग करना संभव नहीं है, अतः जो सभी कर्मों के फल में आसक्ति का त्याग करता है, वही त्यागी कहा जाता है. (१८.११)

कर्मों के तीन प्रकार का फल — अच्छा, बुरा और मिश्रित — मरने के बाद कर्मफल में आसक्ति का त्याग न करने वाले को मिलता है, परन्तु त्यागी को कभी नहीं मिलता. (१८.१२)

हे महाबाहो, सांख्य सिद्धान्त के अनुसार सभी कर्मों की सिद्धि के लिये ये पांच कारण — स्थूल शरीर, प्रकृति के गुणरूपी कर्ता, पांच प्राण, इन्द्रियां तथा इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवगण — बताये गये हैं, जिसे तुम मुझसे भलीभांति जानो. (१८.१३-१४)

मनुष्य अपने मन, वाणी और शरीर के द्वारा जो कुछ भी उचित या अनुचित कर्म करता है, उसके ये पांच कारण हैं. (१८.१५)

अतः जो केवल अपने आपको (अर्थात् अपने शरीर या आत्मा को) ही कर्ता मान बैठता है, वह अज्ञानी मनुष्य अशुद्ध बुद्धि के कारण नहीं समझता है. (१८.१६)

जिस मनुष्य के अन्तःकरण में "मैं कर्ता हूँ" का भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि (कर्मफल की आसक्ति से) लिप्त नहीं है, वह इन सारे प्राणियों को मारकर भी वास्तव में न किसी को मारता है और न पाप से बन्धता है. (१८.१७)

कार्य का ज्ञान, ज्ञान का विषय (ज्ञेय) और ज्ञाता — ये तीन कर्म की प्रेरणा हैं; तथा करण अर्थात् इन्द्रियां, क्रिया और कर्ता अर्थात् प्रकृति के तीनों गुण — ये तीन कर्म के अंग हैं. (१८.१८)

सांख्यमत के अनुसार ज्ञान, कर्म और कर्ता भी गुणों के भेद से तीन प्रकार के माने गये हैं. उनको भी तुम मुझसे भलीभांति सुनो. (१८.१९)

जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य विभक्त रूप में स्थित समस्त प्राणियों में एक ही अविभक्त और अविनाशी परमात्मा को समभाव से स्थित देखता है, उस ज्ञान को तुम सात्त्विक जानो. (११.१३, १३.१६ भी देखें) (१८.२०)

जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य विभिन्न प्राणियों के अस्तित्व में अनेकता का अनुभव करता है, उस ज्ञान को तुम राजसिक समझो. (१८.२१)

और जिस मूर्खतापूर्ण, तुच्छ और बेकार ज्ञान के द्वारा मनुष्य शरीर को ही सब कुछ मानकर उसमें आसक्ति हो जाता है, वह ज्ञान तामसिक है. (१८.२२)

जो कर्म (शास्त्रविधि से) नियत और कर्मफल की इच्छा और आसक्ति से रहित है तथा बिना राग-द्वेष से किया गया है, वह (कर्म) सात्त्विक कहा जाता है. (१८.२३)

जो कर्म फल की कामना वाले, अहंकारी मनुष्य द्वारा बहुत परिश्रम से किया जाता है, वह राजसिक कहा गया है. (१८.२४)

जो कर्म परिणाम, अपनी हानि, परपीड़ा और अपना सामर्थ्य को न विचारकर केवल भ्रमवश किया जाता है, वह कर्म तामसिक कहलाता है. (१८.२५)

जो कर्ता आसक्ति और अहंकार से रहित तथा धैर्य और उत्साह से युक्त एवं कार्य की सफलता और असफलता में निर्विकार रहता है, वह कर्ता सात्त्विक कहा जाता है. (१८.२६)

राग-द्वेष से युक्त, कर्मफल का इच्छुक, लोभी तथा दूसरों को कष्ट देने वाला, अपवित्र विचार वाला और हर्ष-शोक से युक्त कर्ता राजसिक कहा जाता है. (१८.२७)

अयुक्त, असम्य, हठी, धूर्त, द्वेषी, आलसी, उदास और दीर्घसूत्री कर्ता तामसिक कहा जाता है. (१८.२८)

हे अर्जुन, अब तुम मुझ से गुणों के अनुसार बुद्धि के और संकल्प के भी तीन भेद पूर्णरूप से अलग-अलग सुनो. (१८.२९)

जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्ति को, कर्तव्य और अकर्तव्य को, भय और अभय को तथा मुक्ति और बन्धन को यथार्थ रूप से जानती है, वह बुद्धि सात्त्विक है. (१८.३०)

हे पार्थ, जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य धर्म और अधर्म को तथा कर्तव्य और अकर्तव्य को ठीक तरह से नहीं जानता है, वह बुद्धि राजसिक है. (१८.३१)

हे अर्जुन, जो बुद्धि अज्ञान के कारण अधर्म को ही धर्म मान लेती है, इसी तरह सभी चीजों को उल्टा समझ लेती है, वह बुद्धि तामसिक है. (१८.३२)

जिस संकल्प के द्वारा केवल परमात्मा को ही जानने के ध्येय से मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है, वह संकल्प सात्त्विक है. (१८.३३)

हे पृथानन्दन, फल की इच्छा वाला मनुष्य जिस संकल्प के द्वारा धर्म, अर्थ और काम को अत्यन्त आसक्ति पूर्वक धारण करता है, वह संकल्प राजसिक है. (१८.३४)

हे पार्थ, बुद्धिहीन मनुष्य जिस धारणा के द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता, दुःख और लापरवाही को नहीं छोड़ता है, वह संकल्प तामसिक कहा जाता है. (१८.३५)

हे भरतश्रेष्ठ, अब तुम तीन प्रकार के सुख को भी मुझसे सुनो. मनुष्य को आध्यात्मिक साधना से प्राप्त सुख से सभी दुःखों का अन्त हो जाता है. (१८.३६)

ऐसे आत्मबुद्धिरूपी प्रसाद से उत्पन्न सुख को — जो आरम्भ में विष की तरह, परन्तु परिणाम में अमृत के समान होता है — सात्त्विक सुख कहते हैं. (१८.३७)

इन्द्रियों के भोग से उत्पन्न सुख को — जो भोग के समय तो अमृत के समान लगता है, परन्तु जिसका परिणाम विष की तरह होता है — राजसिक सुख कहा गया है. (५.२२ भी देखें) (१८.३८)

निद्रा, आलस्य और लापरवाही से उत्पन्न सुख को, जो भोगकाल में तथा परिणाम में भी मनुष्य को भ्रमित करने वाला होता है, तामसिक सुख कहा गया है. (१८.३९)

पृथ्वी पर अथवा स्वर्ग के देवताओं में कोई भी प्राणी प्रकृति के इन तीन गुणों से मुक्त होकर नहीं रह सकता है. (१८.४०)

हे अर्जुन, चार वर्णों — ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र — में कर्म का विभाजन भी मनुष्यों के गुणों से उत्पन्न स्वभाव के अनुसार ही किया गया है. (४.१३ भी देखें) (१८.४१)

शम, दम, तप, शौच, सहिष्णुता, सत्यवादिता, ज्ञान, विवेक और आस्तिक भाव — ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं. (१८.४२)

शौर्य, तेज, दृढ़ संकल्प, दक्षता, युद्ध से न भागना, दान देना और शासन करना — ये सब क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं. (१८.४३)

खेती, गौपालन तथा व्यापार — ये सब वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं तथा शूद्र का स्वाभाविक कर्म सेवा करना है. (१८.४४)

मनुष्य अपने-अपने स्वाभाविक कर्म करते हुए परम सिद्धि को कैसे प्राप्त कर सकता है, उसे तुम मुझसे सुनो. (१८.४५)

जिस परब्रह्म परमात्मा से समस्त प्राणियों की उत्पत्ति होती है और जिससे यह सारा जगत व्याप्त है, उसका अपने कर्म के द्वारा पूजन करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त होता है. (९.२७, १२.१० भी देखें) (१८.४६)

अपना गुणरहित सहज और स्वाभाविक कार्य आत्मविकास के लिए दूसरे अच्छे अस्वाभाविक कार्य से श्रेयस्कर है, क्योंकि (निष्काम भाव से) अपना स्वभाविक कार्य करने से मनुष्य को पाप नहीं लगता है. (३.३५ भी देखें) (१८.४७)

हे अर्जुन, अपने दोषयुक्त सहज स्वाभाविक कर्म का भी त्याग नहीं करना चाहिए; क्योंकि जैसे धुएँ से अग्नि लिप्त होती है, वैसे ही सभी कर्म किसी-न-किसी दोष से युक्त होते हैं. (१८.४८)

आसक्ति रहित, इच्छा रहित और जितेन्द्रिय मनुष्य संन्यास (अर्थात् सकाम कर्मों के परित्याग) के द्वारा (कर्म के बन्धन से मुक्त होकर) परम नैष्कर्म्य-सिद्धि प्राप्त करता है. (१८.४९)

हे कौन्तेय, नैष्कर्म्य-सिद्धि को प्राप्त हुआ साधक किस प्रकार तत्त्वज्ञान की परा निष्ठा — परमपुरुष — को प्राप्त होता है, उसे भी मुझसे संक्षेप में सुनो. (१८.५०)

विशुद्ध बुद्धि से युक्त, मन के दृढ़ संकल्प द्वारा आत्मसंयम कर, शब्दादि विषयों को त्याग कर, राग-द्वेष से रहित होकर, एकान्त में रहकर, हल्का, सात्त्विक और नियमित भोजन करके, अपने वाणी, कर्मेन्द्रियों और मन को संयत कर, परमात्मा के ध्यान में सदैव लगा हुआ, दृढ़ वैराग्य को प्राप्त, अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और स्वामित्व को त्यागकर, ममत्वभाव से रहित और शान्त मनुष्य परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के योग्य बन जाता है. (१८.५१-५३)

उपरोक्त ब्रह्मभूत अवस्था प्राप्त, प्रसन्न चित्त वाला साधक न तो किसी के लिये शोक करता है, न किसी वस्तु की इच्छा ही करता है. ऐसा समस्त प्राणियों में समभाव वाला साधक मेरी पराभक्ति को प्राप्त करता है. (१८.५४)

श्रद्धा और भक्ति (अर्थात् पराभक्ति) के द्वारा ही मैं तत्त्व से जाना जा सकता हूँ कि मैं कौन हूँ और क्या हूँ. मुझे तत्त्व से जानने

के पश्चात् तत्काल ही मनुष्य मुझ में प्रवेश कर (मत्स्वरूप बन) जाता है. (५.१९ भी देखें) (१८.५५)

मेरा आश्रय लेने वाला (कर्मयोगी भक्त) सदा सब कर्म करता हुआ भी मेरी कृपा से शाश्वत अविनाशी पद को प्राप्त करता है. (१८.५६)

समस्त कर्मों को श्रद्धा और भक्ति पूर्वक मुझे अर्पण कर, मुझे अपना परम लक्ष्य मानकर मुझ पर ही भरोसा रख तथा निष्काम कर्मयोग का आश्रय लेकर निरन्तर मुझ में ही चित्त लगा. (१८.५७)

मुझ में चित्त लगा कर तुम मेरी कृपा से सम्पूर्ण विघ्नों को पार कर जाओगे और यदि तुम अहंकारवश मेरे इस उपदेश को नहीं सुनोगे, तो तुम्हारा पतन होगा. (१८.५८)

यदि अहंकारवश तुम ऐसा सोच रहे हो कि मैं यह युद्ध नहीं करूँगा, तो तुम्हारा ऐसा सोचना मिथ्या है, क्योंकि तुम्हारा स्वभाव तुम्हें बलात् युद्ध में लगा देगा. (१८.५९)

हे अर्जुन, तुम अपने स्वाभाविक कर्म (के संस्काररूपी बन्धनों) से बन्धे हो, अतः भ्रमवश जिस काम को तुम नहीं करना चाहते हो, उसे भी तुम विवश होकर करोगे. (१८.६०)

हे अर्जुन, ईश्वर (अर्थात् श्रीकृष्ण ही) सभी प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित होकर अपनी माया के द्वारा प्राणियों को यन्त्र पर आरूढ़ कठपुतली की तरह घुमाते रहता है. (१८.६१)

हे भारत, तुम पराभक्ति भाव से उस ईश्वर की ही शरण में जाओ. उसकी कृपा से तुम परम शान्ति और शाश्वत परमधाम को प्राप्त करोगे. (१८.६२)

मैंने गुह्य से भी गुह्यतर ज्ञान तुमसे कहा है. अब इस पर अच्छी तरह से विचार करने के बाद तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा करो. (१८.६३)

मेरे इस समस्त गुह्यों में गुह्यतम परम उपदेश को तुम एक बार फिर सुनो. तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, इसलिए मैं तुम्हारे हित की बात कहूँगा. (१८.६४)

तुम मुझ में अपना मन लगाओ, मेरे भक्त बनो, मेरी पूजा करो, मुझे नमस्कार करो. ऐसा करने से तुम मुझे अवश्य ही प्राप्त करोगे. मैं तुम्हें यह सत्य वचन देता हूँ, क्योंकि तुम मेरे प्रिय मित्र हो. (१८.६५)

सम्पूर्ण धर्मों का (अर्थात् पुण्य कार्यों का भी) परित्याग करके तुम एक मेरी ही शरण में आ जाओ. शोक मत करो, मैं तुम्हें समस्त पापों (अर्थात् कर्म के बन्धनों) से मुक्त कर दूँगा. (१८.६६)

(गीता के) इस गुह्यतम ज्ञान को तपरहित और भक्तिरहित व्यक्तियों को, अथवा जो इसे सुनना नहीं चाहते हों, अथवा जिन्हें मुझ में श्रद्धा न हो; उन लोगों से कभी नहीं कहना चाहिए. (१८.६७)

जो व्यक्ति इस परम गुह्य ज्ञान का मेरे भक्तजनों के बीच प्रचार और प्रसार करेगा, वह मेरी यह सर्वोत्तम परा भक्ति करके निस्सन्देह मुझे प्राप्त होगा. उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करने वाला कोई मनुष्य नहीं होगा; और न मेरा उससे ज्यादा प्रिय इस पृथ्वी पर कोई दूसरा होगा. (१८.६८-६९)

जो व्यक्ति हम दोनों के इस धर्ममय संवाद का अध्ययन करेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञ से पूजित होऊँगा — यह मेरा वचन है. (१८.७०)

तथा जो श्रद्धा पूर्वक — बिना आलोचना किये — इसे सुनेगा, वह भी सम्पूर्ण पापों से मुक्त होकर पुण्यवान लोगों के शुभ लोकों को प्राप्त करेगा. (१८.७१)

हे पार्थ, क्या तुमने एकाग्रचित्त होकर इसे सुना? और हे धनंजय, क्या तुम्हारा अज्ञान जनित भ्रम पूर्णरूप से नष्ट हुआ? (१८.७२)

अर्जुन बोले— हे अच्युत, आपकी कृपा से मेरा भ्रम दूर हो गया है और मुझे ज्ञान प्राप्त हो गया है. अब मैं संशयरहित हो गया हूँ और मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा. (१८.७३)

संजय बोले— इस प्रकार मैंने भगवान श्रीकृष्ण और महात्मा अर्जुन का यह अद्भुत और रोमांचकारी संवाद सुना. (१८.७४)

व्यास जी की कृपा से (दिव्य दृष्टि पाकर) मैंने इस परम गुह्य ज्ञान को (अर्जुन से कहते हुए) साक्षात् योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान से सुना है. (१८.७५)

हे राजन्, भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुन के इस पवित्र (अर्थात् कल्याणकारी) और अद्भुत संवाद को बार-बार स्मरण करके मैं बारम्बार हर्षित होता हूँ. (१८.७६)

हे राजन्, श्रीहरि के अत्यन्त अद्भुत रूप को भी बार-बार स्मरण करके मुझे अत्यन्त आश्चर्य होता है और मैं बारम्बार हर्षित होता हूँ. (१८.७७)

जहां भी, जिस देश या घर में, (धर्म अर्थात् शास्त्रधारी) योगेश्वर श्रीकृष्ण तथा (धर्म रक्षा एवं कर्मरूपी) शास्त्रधारी अर्जुन दोनों होंगे, वहीं श्री, विजय, विभूति और नीति आदि सदा विराजमान रहेंगी. ऐसा मेरा अटल विश्वास है. (१८.७८)

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे  
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥